शांतिकाल?

अरूंधति रॉय

पिछले कुछ समय से भारतीय प्रेस जगत एक बड़ी मज़ेदार बहस की गिरफ़्त में है। हाल ही में अंग्रेज़ी के एक प्रमुख अख़बार में ख़बर छपी कि उसके तीसरे पृष्ठ पर कोई भी व्यक्ति पैसा देकर अपनी ख़बर लगवा सकता है। (इस बात का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि अख़बार में छपने वाली दूसरी ख़बरें अप्रायोजित, बेदाग़ और 'सिर्फ़ ख़बर' ही होती हैं।) इस घोषणा के इर्द-गिर्द ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई। ज़्यादातर लोगों की राय थी कि यह निष्पक्ष पत्रकारिता की गौरवपूर्ण परंपरा का पतन है। ज़ाती तौर पर मुझे इस ख़बर को पढ़कर काफ़ी ख़ुशी-सी हुई। मैं इस बात को लेकर ख़ुश थी कि आख़िरकार मुख्यधारा के एक बड़े अख़बार की इस घोषणा से हर बात को भक्ति-भाव से लेने वाली जनता के सामने मास मीडिया की कारगुज़ारी खुलकर सामने आ गयी है। 'पैसे देकर' ख़बर में जगह बनाने की बात स्थापित हो जाने के बाद लोगों के लिए यह कल्पना कर पाना मुश्किल नहीं रह जाएगा कि जिस तरह चटपटी ख़बरों के कॉलम को बेचा जा सकता है उसी तरह अख़बार के बाक़ी हिस्से को भी बेचा जा सकता है। आख़िर 'बाज़ार' के इस दौर में जहाँ नदियाँ, जंगल, आज़ादी, लोकतंत्र और न्याय सब कुछ बिकाऊ हो चला है उसमें ख़बरों की क्या औक़ात है! ज़रा सोचिए यह सुनना कैसा लगेगा कि "इस रिपोर्ट के प्रायोजक हैं" और इन ख़बरों के दाम शीर्षक, पृष्ठ 1, पृष्ठ 2 और खेल के पेज के हिसाब से अलग-अलग होंगे। हाँ ख़बरों के दाम का यह मामला अब "मुक्त बाज़ार" के हाथों में भी छोड़ा जा सकता है। तो बात यह है कि एक सफल रणनीति को क्यों बदला जाए?

बड़ी संख्या में पढ़े जाने वाले अख़बारों और व्यावसायिक टीवी चैनलों को एक वैचारिक षड्यंत्र का हिस्सा माना जाए या उन्हें अराजनैतिक, दयालु, अराजक तंत्र के औज़ार समझे जाएँ - यह बहस अब बहुत पुरानी पड़ चुकी है और इसके बारे में आगे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। विश्व व्यापार केन्द्र (वर्ल्ड ट्रेड सेंटर) पर हुए 11 सितम्बर के हमले के बाद अमेरिकी मीडिया ने जिस तरह सरकार की गोद में बैठकर ख़बरबाज़ी की वह पूरी दुनिया में मज़ाक की चीज़ बन चुकी है। इस घटना से अमेरिका में 'आज़ाद प्रेस' के मिथक की पोल खुलकर रह गयी है। लेकिन आगे की बात कहने से पहले इस बात पर ध्यान देना बेहतर होगा कि भारतीय मीडिया ने भी पोखरण के आणविक परीक्षण और कारगिल युद्ध के समय इसी तरह का हल्ला मचाया था। इसी तरह भारतीय संसद पर 13 दिसम्बर

को हुए हमले के समय भी मीडिया ने ऐसा ही जनोन्माद फैलाया था। एस. ए. आर. जिलानी की सुनवाई को मीडिया ने इस क़दर राष्ट्रवादी उन्माद में तब्दील कर दिया था कि सच और झूठ का फ़र्क़ ही ग़ायब हो गया था। जिलानी के ख़िलाफ़ ये सारी मुहिम राष्ट्रवादी-युद्धोन्मादी मीडिया की कारगुज़ारी थी जो पूरी तरह झूठ पर टिकी थी। रोज़मर्रा की बात करें तो क्या भारत के मास मीडिया की ख़ुराक पर ज़िन्दा रहने वाले लोगों को इस बात का पता चल पाएगा कि कश्मीर में 1989 से लेकर अब तक अस्सी हज़ार लोग मारे जा चुके हैं? और इस जनसंहार के पीछे भारत की रक्षा सेनाओं का हाथ है? हमारे देश के ज़्यादातर नागरिकों को यह बात नागवार गुज़रेगी कि कश्मीर घाटी में होने वाली हत्याएँ और लोगों की 'गुमशुदगी' भारत को किसी भी तानाशाह देश की जमात में खड़ा करने के लिए काफ़ी है।

दरअसल शासन प्रणाली के रूप में आधुनिक लोकतंत्र काफ़ी समय से अस्तित्व में है। और नव उदारवादी पूंजीपति यह बात अच्छी तरह सीख चुके हैं कि लोकतंत्र पर कैसे लगाम कसी जाए! यह वर्ग लोकतंत्र के स्तंभों - 'स्वतंत्र' न्यायपालिका, 'आज़ाद' प्रेस और संसद के अन्दर घुसकर उन्हें अपने तरीक़े से चलाने में महारत हासिल कर चुका है। कॉरपोरेट वैश्वीकरण की परियोजना ने व्यवस्था के मूल मंत्र को हथिया लिया है। मुक्त बाज़ार के इस दौर में स्वतंत्र चुनावों, स्वतंत्र प्रेस और न्यायपालिका का कोई मतलब नहीं रह गया है। सबसे ऊँची बोली लगाने वाला इन उपकरणों को जब चाहे तब ख़रीद सकता है।

लोकतंत्र पर क़ब्ज़ा करने के लिए मीडिया को नियंत्रित करना दिन-ब-दिन महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। इस बात को इटली के प्रधानमंत्री सिलवियो बेरलस कोनी से बेहतर कौन जान सकता है। इटली के टेलीविज़न तंत्र का नब्बे फ़ीसदी हिस्सा उसी के क़ब्ज़े में है। इसी तरह अमेरिकी मीडिया भी कुल मिलाकर छह बड़ी कम्पनियों की मिल्कियत बन कर रह गया है। अमेरिका में केबल और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का नब्बे प्रतिशत स्वामित्व महज़ चार बड़ी कम्पनियों के हाथ में है। अब तो इंटरनेट की वेबसाइटें भी बड़ी मीडिया कॉरपोरेशन का उपनिवेश बनती जा रही हैं।

कॉरपोरेट मीडिया को नव उदारवादी परियोजना का हमदर्द समझना ग़लतफ़हमी होगी। सच तो यह है कि वह ख़ुद ही एक नव उदारवादी परियोजना है। यह अब सत्ता और पैसे का खेल खेलने वाले लोगों का जमघट बन गया है। जैसे-जैसे कॉरपोरेट वैश्वीकरण की परियोजना के चलते अमीर और ग़रीब के बीच की खाई बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे कॉरपोरेट जगत को ऐसी सरकारों की ज़रूरत पड़ने लगी है जो हाशिए पर जीने वाले इन छोटे-मोटे लोगो के विरोध या विद्रोह को दबा सकें। सच तो यह है कि ख़ुद सरकार को भी इन कॉरपोरेशनों की ज़रूरत है। यह पारस्परिक निर्भरता एक तरह के कॉरपोरेट राष्ट्रवाद को जन्म देती है। अगर आप चाहें तो इसे कॉरपोरेट-राष्ट्रवाद भी कहा जा सकता है। तो लब्बो-लुआब यह है कि यह कॉरपोरेट-राष्ट्रवाद मास मीडिया का राष्ट्रगान बन गया है।

हम जैसे लोगों का एक बड़ा काम यह है कि सत्ता, धन और 'निष्पक्ष' माने जाने वाले स्वतंत्र मीडिया के आपसी संबंधों के गुल-गपाड़े का खुलासा किया जाए। पिछले कुछ सालों में नए मीडिया की यही कारगुज़ारी रही है। नए मीडिया ने पुराने मीडिया को कुछ इस तरह घेर लिया है जैसे मक्खियाँ बूढ़ी भैंस को घेर लेती हैं। यह बेचारी बूढ़ी भैंस चाहे जहाँ जाए, जहाँ रुके; मक्खियों का यह हुजूम उसका पिंड नहीं छोड़ता। यह उसकी हर हरकत और गतिविधि पर नुक़्ताचीनी करता रहता है। बक़ौल चोम्स्की और हरमन, नए मीडिया ने पारंपरिक मास मीडिया की प्रचार मशीनरी को एक विशाल सीडी रोम में तब्दील कर दिया है। इस नए मंज़र में भैंस को पाठ और मक्खियों को हाइपरलिंक्स की जगह रख कर देखा जा सकता है। मक्खी पर क्लिक करें, ख़बर के अंदरूनी भूगोल में पहुँच जाएँ।

इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाले चंद ख़ुशक़िस्मत लोगों की बात छोड़ दें तो समूचा मास मीडिया ताक़तवर लोगों के स्वार्थों का बोरियत भरा बुलेटिन बन कर रह गया है। जहाँ तक मक्खियों की बात

है, उनके लिए यह एक बड़ी उपलब्धि है, लेकिन भैंस के लिए यह महज़ एक परेशानी का सबब ही है।

मक्खियों के लिए यह एक बड़ी कामयाबी हो सकती है लेकिन इसे एक मुकम्मल जीत कतई नहीं कहा जा सकता क्योंकि मक्खियों की गति और उनकी हरकतें भैंस के रास्ते यानी एक संकट से दूसरे संकट के बीच की अवधि, और एक युद्ध से दूसरे युद्ध की गहमा-गहमी से तय होती है। अभी भी यह बात भैंस ही तय करती है कि कौन सा संकट मीडिया के लिए अच्छी ख़ुराक साबित होगा और कौन सा नहीं, यानी अभी भी भैंस ही 'मेन्यु' तय कर रही है। तो हालात-ए-हाज़रा ये कि भैंस और मक्खियाँ एक ऐसे युद्ध के कगार पर आ पहुँची हैं जिससे पूरी दुनिया का राजनैतिक मानचित्र बदल सकता है और इतिहास की धारा बदल सकती है। इराक़ पर हमले की इस तैयारी के मद्देनज़र अमेरिकी सरकार के झूठ ज़ोर-शोर से प्रचारित किए जा रहे हैं। इसके साथ ही एहतियाती हमले और युद्ध के हरबे-हथियार जमा किए जाने लगे हैं। जहाँ तक जनसंहार के कथित हथियारों की बात है तो इराक़ में आज तक ऐसी कोई चीज़ नहीं मिल पायी है। युद्ध के अगले दौर से पहले ही अमेरिका इराक़ पर अपने क़ब्ज़े को अन्जाम दे चुका है (वैसे यह युद्ध ही 13 साल पुराना है)। इराक़ की जंग इतिहास में बेमिसाल है। इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी के उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं। 15 फ़रवरी 2003 जनता की नैतिक एकजुटता के लिहाज़ से एक नायाब मिसाल है। इस दिन पूरी दुनिया में इराक़ पर किए गए हमले के विरोध में दुनिया के 750 शहरों में लाखों लोगों ने प्रदर्शन किया। अब अगर इसके बाद भी अमेरिका और उसके सहयोगी देश जन-प्रतिरोध को दरकिनार करते हुए इराक़ पर क़ब्ज़ा बनाए रखते हैं तो आधुनिक लोकतंत्र के लिए इससे बड़ी त्रासदी और कोई नहीं हो सकती।

लेकिन जैसे हमें और चीज़ों की आदत पड़ जाती है वैसे ही शायद यह अन्याय भी हमारी आदत में शुमार हो जाएगा। अब होने यह लगा है कि सरकारें संकट को तब तक टालती रहती हैं जब तक वह ख़ुद ही निष्प्राण नहीं हो जाता। दरअसल सरकारें यह बात जानती हैं कि संकट अल्पजीवी ही होता है। वे यह बात भी जानती हैं कि मीडिया एक संकट के बारे में बहुत दिनों तक बात नहीं कर सकता। उसे ज़िन्दा रहने के लिए हमेशा अगले संकट का इंतज़ार रहता है। जिस तरह व्यावसायिक घरानों को एक वक़्त के बाद अपनी पूंजी दूसरी जगह लगानी पड़ती है उसी तरह मीडिया को भी एक समय के बाद नए संकट की दरकार होती है। अमेरिकी सरकार यह बात जानती है कि जैसे अफ़गानिस्तान, तिब्बत या फ़लिस्तीन उसके क़ब्ज़े का शिकार हुए हैं उसी तरह इराक़ भी एक दिन उसका ताबेदार बनकर रह जाएगा। अमरीकी सरकार को इस पूरे मामले में अगर कोई तैयारी करनी है तो वह है सिर्फ़ सही वक़्त का इंतज़ार। एक बार जैसे मीडिया इस संकट को गा-बजा कर उदरस्थ कर लेता है वैसे ही इससे जनता का ध्यान हट जाएगा। और ग़ौर करने की बात यह है कि किसी घटना से मीडिया का ध्यान जैसे ही हटता है तो समूचा परिदृश्य ही निर्णायक तौर पर बदल जाता है। जैसे ही मीडिया एक घटना को पिछले खाते में डालता है वैसे ही देश के देश एक पुरानी ख़बर बन कर रह जाते हैं। उनका वजूद ही ख़त्म हो जाता है। और अँधेरा इतना घना हो जाता है कि पहले के दृश्यों की याद भी धुँधली हो जाती है। सोवियत सेनाओं द्वारा अफ़ग़ानिस्तान छोड़ने के समय भी ऐसा ही कुछ हुआ था। आज हमारे सामने वही घटना एक बार फिर दोहराई जा रही है। अन्ततः जब भैंस लड़खड़ाने लगती है तो मक्खियों को भी इसी नियति से दो-चार होना पड़ता है।

इक्कीसवीं सदी में जोखिम-पत्रकारिता एक स्वतंत्र अनुशासन बन गया है। उसने लगभग विज्ञान का रूप अख़्तियार कर लिया है। जोखिम की इस पत्रकारिता के पीछे पैसा, तकनीक और जनोन्माद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संकटपूर्ण घटनाओं की रिपोर्टिंग में संकट को उसके ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक संदर्भों से हटा कर कुछ और ही रूप दे दिया जाता है। अन्ततः घटना की रिपोर्ट हवा में एक गुब्बारे की तरह तैरने लगती है। यह गुब्बारा पूरी दुनिया में उड़ान भरता रहता है और विशेषज्ञों,

विश्लेषकों, विदेशी संवादाताओं तथा ख़तरों की फ़ोटॉग्रफ़ी करने वाले लोगों की जुगाली का विषय बन जाता है।

घटनाओं की नुक्ताचीनी करने में माहिर ये विश्लेषक पिछली घटना को बीच में ही छोड़कर एक नए संकट की पूँछ पकड़ लेते हैं और पिछली घटनाओं को अपने अंदर समेटे यह गुब्बारा बीच में ही छोड़ दिया जाता है। यह गुब्बारा आसमान में इस उम्मीद के साथ भटकता रहता है कि शायद इतिहास में कभी न कभी इसका नाम भी दर्ज किया जाएगा। संकट के ठंडे पड़ जाने या उससे नज़र फेर लेने से तकलीफ़देह कुछ नहीं होता (ज़मीनी सच्चाई जानने के लिए देखें अफ़गानिस्तान 2002, गुजरात, भारत, 2003 ई.)।

जोखिम भरी घटनाओं की रिपोर्टिंग अपने पीछे एक दुधारी विरासत छोड़ती है। एक तरफ़ जहाँ सरकारें संकट के प्रबंधन को एक कला का रूप देने में लगी रहती हैं वहीं जनता के विरोध-प्रदर्शन को एक ऐसी गिरफ़्त में फाँस लिया जाता है जिससे एक नया ही संकट पैदा होने लगता है। मामले को पेचीदा बनाना सत्ता में बैठे लोगों के लिए ज़रूरी होता है। वे दर्शकों को यह संकट छौंक लगाकर पेश करते हैं। दरअसल, हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जहाँ बड़े से बड़ा मानवीय संकट एक उपभोक्ता वस्तु या तमाशा बनकर रह गया है। यह कोई नयी बात नहीं है परन्तु इस दौर में यह प्रवृत्ति नयी दिशाएँ और नयी शक्लें ग्रहण करती जा रही हैं। जहाज़ लेकर इमारतों में घुस जाना इसका एक आधुनिक और अतिवादी रूप कहा जा सकता है।

संकट को लोकप्रिय रूप देने या राजनैतिक मंच बना देने का एक मुकम्मल इतिहास रहा है। गांधीजी का नमक सत्याग्रह इस संदर्भ में उदाहरण की तरह देखा जा सकता है लेकिन नमक सत्याग्रह महज़ एक राजनैतिक घटना ही नहीं सिविल नाफ़रमानी की एक प्रतीकात्मक कार्रवाई भी था। दाण्डी यात्रा के परिणामस्वरूप हज़ारों लोगों ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में नमक बनाकर साम्राज्यवादी ब्रिटेन के नमक क़ानूनों की खुली मुख़ालफ़त की थी। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक आधार पर सीधे चोट करता था।

हमारे दौर में ऐसी घटनाओं को उनकी मूल प्रतिज्ञाओं और दीर्घकालिक नागरिक अवज्ञा के पहलू से काटकर रख दिया गया है। अब वह जन-प्रतिरोध महज़ एक प्रतीक बनकर रह गया है। यही नहीं, अब संकट का इस्तेमाल दूसरे मक़सद के लिए भी किया जाने लगा है। आज जन-प्रतिरोध, आन्दोलनों और राजनैतिक दलों के अभियानों की विभाजन रेखा धुंधली होने लगी है। यहाँ मुझे लालकृष्ण आडवाणी की रथ यात्रा याद आ रही है। हमें याद है कि इस रथ यात्रा का पटाक्षेप बाबरी मस्जिद के विध्वंस में हुआ था। यही बात अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण के लिए शुरू किए गए कार सेवा अभियान के बारे में भी कही जा सकती है। मंदिर निर्माण का मुद्दा एक ऐसी हाँडी है जिसे संघ परिवार चुनाव के समय आग पर चढ़ाता रहा है।

प्रतिरोध आन्दोलन और राजनैतिक दलों के चुनावी अभियान – दोनों ही घटनाओं को तमाशाई शक्ल देने की फ़िराक़ में रहते हैं। हालाँकि यह बात बेशक सही है कि दोनों के रूप अलग-अलग होते हैं।

जब-जब ऐसे अवसर आते हैं जहाँ यह प्रतीकात्मक राजनीति क़ानून का उल्लंघन करने लगती है वहाँ खुद राज्य बीच में आकर यह फैसला देने लगता है कि राजनैतिक दल के अभियान और जनता के प्रतिरोध आन्दोलन के बीच क्या फ़र्क़ होता है। उदाहरण के लिए बाबरी मस्जिद को ढहाने पर आमादा भीड़ पर पुलिस ने गोली चलाने की कोई कोशिश नहीं की। इसी तरह कांग्रेस पार्टी के कार्यकर्ताओं द्वारा 1984 में सिक्खों के ख़िलाफ़ की गयी हिंसा पर भी पुलिस ने कोई क़दम नहीं उठाया। बम्बई में, 1993 में शिव सेना द्वारा मुसलमानों के क़त्लेआम या 2002 में गुजरात में भाजपा/विश्व हिन्दू परिषद/बजरंग दल की क़ातिलाना कारगुज़ारियों के ख़िलाफ़ भी पुलिस ने कोई क़दम नहीं उठाया। हिंसा की इन घटनाओं

में लिप्त लोगों के ख़िलाफ़ पुलिस, अदालत या सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की। जबकि हाल के वर्षों में सरकार की 'विकास परियोजनाओं' से दर-बदर होने वाले लोगों, औरतों और बच्चों ने जब-जब विरोध किया है तब-तब पुलिस इन निहत्थे लोगों पर हमला करने से बाज़ नहीं आयी है।

जोखिम भरी घटनाओं पर पलने वाले मीडिया के इस दौर में अगर आपके पास कोई ऐसी घटना नहीं है जिसके बारे में आप बात कर सकें तो इसका मतलब यह है कि आप ख़बरों में नहीं हैं और अगर आप ख़बरों में नहीं हैं तो आप ज़िन्दा ही नहीं हैं। ऐसा लगता है मानो मीडिया द्वारा रची गयी आभासी दुनिया वास्तविक जीवन से ज़्यादा वास्तविक बन गयी है।

आज हालत यह हो चुकी है कि आत्मसम्मान बचाने के लिए किए जाने वाले किसी भी आन्दोलन या किसी भी मुद्दे को आगे बढ़ाने के लिए उसे एक गुब्बारे की तरह आसमान में छोड़ना पड़ता है। दूसरे ढंग से कहें तो अपनी दिक़्क़तों और दुखों को सार्वजनिक बनाने के लिए लोगों को अपनी बात का विज्ञापन करना पड़ता है। उन्हें इसकी ब्रैंड और मक़सद के बारे में बताना पड़ता है। यही कारण है कि खाद्य वितरण की ख़ामियों और सूखे की विभीषिका को उजागर करने के लिए सिर्फ़ कुपोषण के मामले बयान करने से बात नहीं बनती बल्कि जब तक भुखमरी के कारण लोग मर न जाएँ तब तक हालात पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। एक समय तक बड़े बाँधों का विरोध करने के लिए जल-सत्याग्रह के तरीक़े को काफ़ी कारगर समझा जाता था, आज वह तरीक़ा बेमानी हो गया है। आज इन बाँधों का विरोध करने वाले लोगों को या तो मजबूरन नए तरीक़े खोजने पड़ रहे हैं या आन्दोलन से पीछे हटना पड़ रहा है। सरदार सरोवर बाँध पर सर्वोच्च न्यायालय के हैरतअंगेज़ फ़ैसले के बाद जब नर्मदा बचाओ आन्दोलन के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं ने जल समाधि का सहारा लेने की बात की तो उनका यह कह कर मज़ाक उड़ाया गया कि ये लोग अपनी ही कही बात पर अमल नहीं करते।

संकट का ख़ूनी खेल

भारत में राज्य और मास मीडिया नागरिक प्रतिरोध की प्रतीकात्मक कार्रवाई के प्रति हमेशा उदारता बरतने का दिखावा करता रहा है। (वास्तव में इससे देश के सबसे बड़े लोकतंत्र होने का दावा मज़बूत होता है) लेकिन जैसे ही यह नागरिक प्रतिरोध की प्रतीकात्मक कार्रवाई धरना, प्रदर्शन, भूख हड़ताल के दायरे से बढ़ कर एक सचमुच के नागरिक अवज्ञा आन्दोलन (गाँव और जंगल की नाकेबन्दी आदि) का रूप लेने लगती है तो राज्य ऐसे आन्दोलन पर पूरी ताक़त के साथ टूट पड़ता है।

अप्रैल 2000 में मध्य प्रदेश के मेहन्दी खेड़ा में पुलिस ने आदिवासी मुक्ति संगठन की एक शांतिपूर्ण बैठक पर गोलियाँ चलायीं। 2 फ़रवरी 2001 को झारखंड के मुंडा आदिवासियों को भी पुलिस की ज़्यादती का शिकार होना पड़ा। ये आदिवासी कोयल कारो हाइड्रोइलेक्ट्रिक परियोजना का विरोध कर रहे थे। पुलिस की इस वहशियाना कार्रवाई में आठ लोग मारे गए और छत्तीस घायल हुए। 7 अप्रैल 2001 को नटेलको और यूनोकल द्वारा प्रस्तावित निजी बंदरगाह की योजना के ख़िलाफ़ किनारा बचाओ आन्दोलन के कार्यकर्ताओं द्वारा आयोजित शांतिपूर्ण धरने पर राज्य के पुलिस बल ने लाठियाँ बरसायीं और आंदोलन के कार्यकर्ता लेफ़्टिनेन्ट कर्नल प्रताप साल्वे को पीट-पीट कर मार डाला। 31 अक्तूबर, 2001 को उड़ीसा के रायगड़ा में तीन आदिवासियों को मार दिया गया। ये लोग बॉक्साइट खनन परियोजना का विरोध कर रहे थे। इस घटना का विरोध करने के लिए जब 11 नवम्बर को एक शांतिपूर्ण धरने का आयोजन किया गया तो दो आदिवासियों को मार दिया गया। इसी तरह चिलका में मछली पकड़ने के अधिकारों की बहाली के लिए आन्दोलनरत मछुआरों पर पुलिस ने गोलियाँ चलायीं जिसके चलते पाँच लोग मारे गए।

दमन की इन घटनाओं का सिलसिला अन्तहीन है। जम्बू द्वीप, काशीपुर, मैकन्ज जैसे स्थानों

पर ये घटनाएँ बार-बार दोहराई गयी हैं। हाल ही में केरल के मुथंगा नामक स्थान पर एक घटना घटी। फ़रवरी 2003 में चार हज़ार विस्थापित आदिवासियों ने, जिनमें औरतें और बच्चे भी शामिल थे, एक अभयारण्य के छोटे से हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया। सरकार ने इन आदिवासियों को पिछले वर्ष ज़मीन देने का वायदा किया था और वे यही माँग कर रहे थे। ज़मीन पर क़ब्ज़ा देने की समय सीमा कई बार बीत चुकी थी लेकिन सरकार के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। कई दिनों के तनाव और गहमा-गहमी के बाद एक दिन केरल पुलिस ने धरने पर बैठे लोगों को घेर लिया और उन पर गोली चला दी। इस घटना में एक व्यक्ति की मौत हो गयी और कई लोग घायल हुए।

इसे अजीब संयोग कहा जाएगा कि जब भी ग़रीब लोग, विशेष कर दलित और आदिवासी समुदाय अपने जंगलों को बड़े बाँधों, खनन परियोजनाओं और स्टील कारख़ानों (कोयल कारो, नगरनार) से बचाने की माँग करते हैं तो उन्हें जंगल का अतिक्रमण करने के आरोप में पुलिस की गोलियों का सामना करना पड़ता है।

पुलिस फ़ायरिंग की लगभग हर घटना में राज्य की रणनीति इस दलील पर टिकी होती है कि पुलिस को हिंसा पर उतारू भीड़ को रोकने के लिए फ़ायरिंग करनी पड़ी। जिन लोगों पर गोलियाँ चलाई जाती हैं उन्हें तुरत-फ़ुरत पीडब्ल्यूजी, एमसीसी, आईएसआई, लिट्टे का आतंकवादी कहकर पल्ला झाड़ लिया जाता है। मुथंगा की घटना के बारे में पुलिस और राज्य सरकार का कहना यह था कि आदिवासी सशस्त्र विद्रोह पर उतारू हो गए थे और वे समानान्तर सरकार बनाने पर तुले थे। केरल विधान सभा के अध्यक्ष के अनुसार इन आदिवासियों का 'सफ़ाया' करना ठीक ही था।

फ़ायरिंग के घटना-स्थल पर पुलिस ने 'हथियारों का ज़ख़ीरा' भी पैदा कर दिया था। इस ज़ख़ीरे में कुछ पत्थर, कुछ कुल्हाड़ियाँ, दराँती, तीर और रसोई में काम आने वाले कुछ चाकू शामिल थे। इस विद्रोह में इस्तेमाल किया गया एक बड़ा हथियार था मधुमक्खियों से भरा एक थैला। (ज़रा कल्पना करें अपने परिवार और खुद को बचाने के लिए एक नौजवान आदमी जंगल में मधुमक्खियाँ इकट्ठा कर रहा है। क्या कमाल की समानान्तर सरकार रही होगी यह। है न!)

हमारे राज्य की समझ यह है कि अगर पीड़ित व्यक्ति खुद को पीड़ित मानने को तैयार नहीं होता तो वह आतंकवादी है और उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए। उत्पीड़ितों को या तो मार दिया जाता है या फिर पोटा के तहत गिरफ़्तार कर लिया जाता है। खनिज संसाधनों की दृष्टि से सम्पन्न माने जाने वाले राज्यों जैसे उड़ीसा, बिहार और झारखंड में सैकड़ों लोग, जिनमें छोटे-छोटे बच्चे भी शामिल हैं पोटा के तहत गिरफ़्तार किए गए हैं। इन लोगों को बिना कोई मुक़दमा चलाए ही जेलों में ठूँस दिया गया है। कुछ राज्यों में तो 'विकास विरोधी' गतिविधियों को रोकने के लिए विशेष पुलिस दल ही गठित कर दिए गए हैं। पोटा का यह एक दूसरी तरह का इस्तेमाल है। इस क़ानून का पहला रूप हम जम्मू-कश्मीर और गुजरात जैसे राज्यों में देख ही चुके हैं जहाँ इसके तहत मुसलमानों को बुरी तरह आतंकित किया गया है। सच बात यह है कि शांतिपूर्ण नागरिक अवज्ञा की जगह सिकुड़ती जा रही है। कॉरपोरेट वैश्वीकरण के इस दौर में ग़रीब होना अपराध हो गया है। अगर कोई बढ़ती लाचारी का प्रतिरोध करने निकलता है तो उस पर आतंकवाद को बढ़ावा देनी की तोहमत लगा दी जाती है। आतंकवाद विरोधी युद्ध के इस दौर में ग़रीबी को आतंकवाद का पर्याय बना दिया गया है।

आज जब कोई अपने मानव और संवैधानिक अधिकारों के उल्लंघन के ख़िलाफ़ बोलना चाहता है तो उसे आतंकवादी क़रार दे दिया जाता है। इस समूची कार्रवाई और आरोप तय करने की प्रक्रिया को इस क़दर पवित्र बना दिया गया है कि उस पर कोई सवाल ही नहीं उठाया जाता। जब शांतिपूर्ण प्रतिरोध की सारी संभावनाएँ ही ख़त्म हो जाएँ तो अतिवादी, विद्रोही और चरमपंथी गुटों द्वारा जंगलों में ठिकाने बनाने की बात पर कोई अचरज नहीं किया जाना चाहिए। कश्मीर, उत्तर-पूर्व, मध्य प्रदेश,

छत्तीसगढ़ और झारखंड के बड़े हिस्से वास्तव में राज्य के नियंत्रण से बाहर जा चुके हैं।

प्रतिरोध आन्दोलनों और उनके समर्थकों के लिए नागरिक अवज्ञा की संभावना का दायरा बढ़ाने की बात बहुत ज़रूरी हो गयी है। इस काम में सफलता हासिल करने के लिए हमें मीडिया के लटकों-झटकों और पेंचोख़म से सावधान रहना पड़ेगा। हमें इस बात के प्रति सजग रहना होगा कि कहीं हम मीडिया की घटनाओं से खेलने की अंतहीन इच्छा का शिकार बनकर न रह जाएँ। यहाँ सावधानी की इसलिए ज़रूरत है क्योंकि मीडिया की सनसनी लोगों की ऊर्जा और कल्पना को लील जाती है।

इस बात के भरपूर संकेत दिखने लगे हैं कि संघर्ष का आधार फैलने लगा है। 27 फरवरी को मध्य प्रदेश के निमाड़ में 'मालवा किसान मज़दूर संगठन' के तत्वावधान में किसानों और खेतिहर मज़दूरों ने यह संकल्प लिया कि वे बिजली का बिल अदा नहीं करेंगे। ये लोग ऊर्जा क्षेत्र के निजीकरण का विरोध कर रहे थे। अभी तक मध्य प्रदेश सरकार की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं आयी है। यह देखना दिलचस्प होगा कि सरकार क्या क़दम उठाती है। आज हमें ठोस मुद्दों को दोबारा ख़बरों में लाने के नए रास्ते खोजने होंगे। उदाहरण के लिए, नर्मदा घाटी में चल रहे आन्दोलन का असली मुद्दा यह नहीं है कि वहाँ के लोग जल समाधि लेंगे या नहीं, मुद्दा नर्मदा बचाओ आन्दोलन की संघर्ष नीति, उसकी सफलता और असफलताओं का भी नहीं है। असल मुद्दा बड़े बाँध का है। हमें इन दोनों के बीच फ़र्क़ करना होगा।

असल मुद्दा यह है कि बुनियादी सरंचना का निजीकरण अपने आप में ही अलोकतांत्रिक बात है। असल मुद्दा बड़े बाँधों के ख़िलाफ़ जनता की शिकायतों का बड़ा-सा ढेर है। असल मुद्दा यह है कि पिछले पचास सालों में भारत में बड़े बाँधों के चलते तीन करोड़ तीस लाख लोगों को विस्थापित होना पड़ा है। असल मुद्दा यह है कि बड़े बाँधों का अब कोई मतलब नहीं रह गया है। बड़े बाँध पर्यावरण की दृष्टि से विनाशकारी, आर्थिक दृष्टि से नुक़सानदेह और राजनैतिक रूप से अलोकतांत्रिक हैं। असल मुद्दा यह है कि सर्वोच्च न्यायालय ने यह जानते हुए भी कि सरदार सरोवर बाँध लोगों के जीवन और रोज़ी-रोटी के अधिकार का खुला उल्लंघन है, इसके निर्माण को हरी झंडी दे दी है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि मास मीडिया में कई बार नासमझी और अकसर जान-बूझ कर बड़े बाँधों से जुड़ी सारी बहस को विकास समर्थक और विकास विरोधी खेमों में बाँटकर रख दिया जाता है। मास मीडिया ने इस आरोप को हवा दी है कि नर्मदा बचाओ आन्दोलन बिजली और कृषि विरोधी है। उस पर गुजरात के हितों की अनदेखी का आरोप भी लगाया जाता है। यह पूरी दलील ही बकवास है। नर्मदा बचाओ आन्दोलन की मान्यता है कि बड़े बाँधों से कोई समस्या हल नहीं होती या दूसरे शब्दों में कहा जाए तो बड़े बाँध बीते ज़माने की बात हो गए हैं। ये बाँध सिर्फ़ विस्थापित लोगों के लिए ही नुक़सानदेह नहीं हैं बल्कि गुजरात के लिए भी उनकी कोई उपादेयता नहीं है। उनके निर्माण पर न केवल बेतहाशा ख़र्च होता है बल्कि उनकी निर्माण योजना के तहत जहाँ पानी भेजने की योजना बनायी जाती है वहाँ पानी पहुँच ही नहीं पाता और अंततः जिस इलाक़े के बारे में कहा जाता है कि बाँध बनने से वहाँ ख़ुशहाली आएगी वहाँ एक पत्ता तक हरा नहीं होता। संबंधित इलाक़े को इस योजना की भारी क़ीमत चुकानी पड़ती है। यह बात हम भारत के एक बड़े और बहुप्रचारित बाँध भाखड़ा-नंगल के संदर्भ में देख चुके हैं। नर्मदा बचाओ आन्दोलन का मानना है कि बिजली पैदा करने और जल संसाधनों का इस्तेमाल करने के और भी स्थानीय, लोकतांत्रिक और पर्यावरण-संगत तरीक़े मौजूद हैं। सच बात यह है कि नर्मदा बचाओ आन्दोलन आधुनिकतावादियों से भी ज़्यादा आधुनिक और लोकतांत्रिक बात कह रहा है।

सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला आने के बाद भारत के इस सबसे विलक्षण आन्दोलन को बड़ा धक्का पहुँचा है। इस फ़ैसले के बाद आन्दोलन विरोधी लोग फिर सक्रिय हो उठे हैं। दूसरे शब्दों में,

चीलें फिर मँडराने लगी हैं। विश्व बैंक की जल संसाधन से जुड़ी नयी नीति में यह घोषणा की गयी है कि बड़े बाँधों के निर्माण की नीति जारी रहेगी यानी विश्व बैंक बड़े बाँधों के निर्माण के लिए आर्थिक मदद देता रहेगा। इस दौरान भारतीय सरकार ने माननीय सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर अमल करते हुए एक बेहद पुरातनपंथी योजना पेश की है। नदियों को आपस में जोड़ने की यह योजना न केवल निरर्थक है बल्कि उसमें तानाशाही की बू भी आती है। यह आदेश किसी वास्तविक सूचना या शोध के आधार पर जारी नहीं किया गया है। यह एक बुढ़ाते न्यायाधीश की सनक भर थी। नदियों को आपस में जोड़ने की परियोजना से बड़े बाँधों की वैधता को और बढ़ावा मिलता है। विकास को लेकर चल रही बहस में इस योजना का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना कि साम्प्रदायिकता संबंधी बहस में राम मंदिर के निर्माण का मुद्दा। यानी यह एक ऐसा अभियान है जो हर चुनाव से पहले जनता के बीच फेंक दिया जाता है। नदियों को जोड़ने की यह योजना चाहे पूरी हो या न हो, यह विचार अपने आप में ही विनाशकारी है। इस योजना का स्थानीय स्तर पर बनायी गयी ज़्यादा प्रभावशाली और लोकतांत्रिक खेती परियोजना के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जाएगा। इस योजना के तहत जनता की जेब से मोटी रक़म खींची जाएगी।

नदियों को आपस में जोड़ने से न केवल बड़े पैमाने पर सामाजिक तनाव पैदा होगा बल्कि इससे पर्यावरण को भी गंभीर नुक़सान पहुँचेगा। कोई भी क़ायदे का पर्यावरणविद इस योजना का समर्थक नहीं हो सकता। इसके बावजूद 'इंडिया टुडे' और 'इंडियन एक्सप्रेस' जैसी बड़ी पत्र-पत्रिकाओं में जब इस योजना के लाभों के बारे में बात की जाती है तो ज़मीन-आसमान एक कर दिए जाते हैं।

अब ज़रा जोखिम की पत्रकारिता के मुद्दे की ओर दोबारा लौटें। मुख्यधारा के मीडिया की जनविरोधी सोच को समझने का एक तरीक़ा यह जानना है कि दुनिया के ज़्यादातर लोगों के लिए शांति का यह कथित काल युद्ध से कम नहीं है। आम जनता को हर दिन भूख, प्यास और मानवाधिकारों के उल्लंघन की लड़ाई लड़नी पड़ती है। सच बात यह है कि युद्ध अकसर एक दूषित शांति की कोख से पैदा होता है। एक ग़लत और अस्थायी शांति हमेशा युद्ध को जन्म देती है। और हम जिसे 'शांति' कहते हैं वास्तव में हमें उसकी ख़ामियों, व्यवस्थागत विकृतियों के बारे में लिखना चाहिए। हममें से कुछ लोगों को तो युद्ध संवाददाता बनने के बजाय शांति-संवादाता बनने की ज़िम्मेदारी उठानी ही पड़ेगी। हमें मुख्यधारा की आमफ़हम पत्रकारिता के आतंक से उबरना ही होगा और रोज़मर्रा के अन्तहीन संकट की अनुगूँजें सुनाने के लिए अपनी तमाम प्रतिभा और कल्पना को झोंकना होगा। इस प्रक्रिया में हमें उन नीतियों का पर्दाफ़ाश करना पड़ेगा जिनके चलते भोजन, पानी, मकान और मानवीय गरिमा जैसी चीज़ें भी आम लोगों के लिए दिवास्वप्न बन जाती हैं।

इस संदर्भ में सबसे अहम बात यह है कि हमें अपनी प्रतिभा राज्य के औज़ारों को समझने और उसके पाखंड को उजागर करने में लगानी होगी। भारत में सर्वोच्च न्यायालय एक ऐसी संस्था है जिसके बारे में कोई कुछ नहीं बोल सकता। यह एक ऐसी संस्था है जो किसी के प्रति जवाबदेह न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक, सांस्कृतिक और प्रशासकीय फ़ैसले लेती है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय दुनिया के सबसे ताक़तवर न्यायालयों में से एक है। बाँध बनाये जाएँ या नहीं, झुग्गी-बस्तियों को कब और कैसे हटाया जाए या शहरी इलाक़ों से उद्योगों को हटाने जैसे मुद्दों पर यह न्यायालय जनता को मनमर्ज़ी से हाँकता हैं। मामला निजीकरण और विनिवेश का हो या स्कूल की पाठ्यपुस्तकों की अध्ययन सामग्री का, न्यायालय हर कहीं अपना डंडा ताने रखता है। सच बात तो यह है कि सर्वोच्च न्यायालय लोगों के जीवन की छोटी से छोटी चीज़ों को भी तय करने लगा है। इसके फ़ैसलों से लाखों लोग प्रभावित होते हैं। आप सर्वोच्च न्यायालय के सारे फ़ैसलों को सही मानें, उनमें से कुछ को मानें या सभी फ़ैसलों को ग़लत मानें, यह आपके विवेक पर निर्भर करता है परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक संस्था के रूप में सर्वोच्च न्यायालय को जवाबदेह होना चाहिए। लोकतंत्र में संस्थाओं की शक्तियाँ कुछ

नियम-क़ायदो के तहत काम करती हैं। उसमें किसी संस्था को सवालों से परे बना देने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए। लेकिन अजीब बात यह है कि न्यायालय की अवमानना के डर से हम उसके किसी फ़ैसले की आलोचना तक नहीं कर सकते। ऐसे में सवाल उठता है कि एक लोकतांत्रिक समाज में अलोकतांत्रिक संस्था का क्या औचित्य है। सर्वोच्च न्यायालय जैसी संस्था एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता बन जाती है जो सारी शक्तियाँ और सारे फ़ैसले अपने पास सुरक्षित बनाए रखती है। पिछले कुछ सालों से यही कुछ हो रहा है। हम एक न्यायिक तानाशाही के दौर में जी रहे हैं और हद यह है कि हमें अभी इस बात का अहसास तक नहीं है।

लोकतंत्र को सार्थक बनाने का एक ही तरीक़ा है कि हर बात पर सवाल उठाए जाएँ। राज्य और नागरिकों के बीच लगातार सार्वजनिक बहस चलायी जाए और असहज सवाल पूछे जाएँ। हम जिस बहस या संवाद की बात कर रहे हैं वह राजनैतिक दलों के बीच होने वाली बतकही नहीं है। (एक-दूसरे के विरोधी राजनैतिक दलों के बारे में रपट लिखने को ही मास मीडिया में एक संतुलित रिपोर्टिंग का नाम दिया जाता है)। आज़ादी के सीमांतो की निगरानी करना ही आज़ादी को बचाने का एकमात्र तरीक़ा है। आज पूरी दुनिया में आज़ादी बचाने के नाम पर ही आज़ादी छीनी जा रही है। अगर एक बार नागरिक समाज से आज़ादी की विदाई हो जाती है तो उसे संघर्ष के बिना दोबारा हासिल नहीं किया जा सकता। आज़ादी को खोना तो बहुत आसान है लेकिन उसे पाना बेहद मुश्किल है।

नागरिक स्वतंत्रता के बारे में यह बात याद रखना बहुत ज़रूरी है कि आज़ादी किसी सरकार द्वारा दी गयी सौग़ात नहीं है बल्कि इसे हासिल करने के लिए जनता को कड़ा संघर्ष करना पड़ा है। अगर हम इस आज़ादी का इस्तेमाल नहीं कर पाते हैं, अगर हम समय-समय पर आज़ादी की सेहत पर ग़ौर नहीं फ़रमाते हैं तो हमारी आज़ादी धीरे-धीरे बेजान हो जाती है। अगर हम अपनी आज़ादी की रक्षा को लेकर चौकस नहीं रहेंगें तो एक दिन वह हमसे छीन ली जाएगी। अगर हम ज़्यादा की माँग नहीं करते तो सत्ता हमारे पास बची-खुची आज़ादी भी नहीं छोड़ेगी।

तो बात यह है कि इन मुद्दों को समझना और उन्हें 'सामान्य स्थिति' से जवाब-तलब करने के लिए इस्तेमाल करना जोखिम की पत्रकारिता की तानाशाही को तोड़ना है।

जोखिम पत्रकारिता का एक दूसरा चिन्ताजनक और नुक़सानदेह पहलू और भी है। जोखिम की पत्रकारिता इतिहास का उल्टा इस्तेमाल करती है। वह बीती हुई कहानियों को तात्कालिकता के रंग में रँगकर पेश करती है। अकसर होता यह है कि शुरुआत संकट की ख़बर से करके अन्त में (सौभाग्यवश) उन घटनाओं का लेखा-जोखा पेश कर दिया जाता है जिनके चलते संकट की ख़बरों का माहौल बनाया जाता है। उदाहरण के लिए अफगानिस्तान के इतिहास पर बात करने से पहले विश्व व्यापार केन्द्र का ज़िक्र किया जाता है और इसी तरह इराक़ के इतिहास पर आने से पहले 'ऑपरेशन डेज़र्ट स्टॉर्म' का राग सुनाया जाता है। इसी तरह केरल में न्याय की लड़ाई लड़ने वाले आदिवासियों की कहानी सुनाने से पहले मीडिया यह ज़िक्र करना नहीं भूलता कि कैसे इन आदिवासियों ने वन्य जीव अभयारण्य पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की थी। जोखिम की यह पत्रकारिता दरअसल इतिहास की एक जटिल प्रक्रिया को इकहरी और तात्कालिक घटना बना देने का अपराध करती है।

संकट के चलते जनता ख़ेमों में बँट जाती है और एक ग़लत समझ का दामन पकड़ कर बैठ जाती है। यानी संकट जनता को इस ढंग से फाँसता है कि या तो वह आतंकवाद की समर्थक दिखने लगती है या उसकी विरोधी। ध्रुवीकरण के इस खेल में वह या तो निजीकरण की समर्थक बन जाती है या राज्य की पैरोकार – यानी अगर आप बुश के साथ नहीं हैं तो आपको सद्दाम का हमदर्द समझ लिया जाता है। क़िस्सा-कोताह ये कि अगर आप अच्छे नहीं हैं तो सारी बुराई आपके भीतर ही है।

दरअसल यह तमाम ख़ेमेबंदी ही झूठी है। चीज़ें सिर्फ़ उतनी नहीं होतीं जितनी दिखायी जाती हैं।

लेकिन संकट की घड़ी में हमारी स्थिति फ़ुटबॉल मैच के उस गोलकीपर की हो जाती है जिसे पेनल्टी शूट आउट के दौरान गोल रोकना होता है। यहाँ हमें किसी एक स्थिति को चुनने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। दुखद यह है कि सही-ग़लत का फ़ैसला करने के लिए हमारे पास सिवाय बुनियादी मानवीय प्रवृत्ति तथा सामाजिक संस्कारों के कुछ नहीं होता। और एक बार किसी ख़ेमे में शामिल होने की देर होती है कि उस ख़ेमे से बाहर आना मुश्किल हो जाता है। इस प्रक्रिया में हमारे बंधु-बांधव ही हमारे दुश्मन बन जाते हैं।

एक उदाहरण लें। मुथंगा के आदिवासियों पर जब पुलिस ने फ़ायरिंग की तो सारे के सारे पर्यावरणवादी मौनी बाबा बन गए। उनका मानना था कि आदिवासियों ने वन्य-जीव अभ्यारण्य की ज़मीन पर क़ब्ज़ा किया है। मीडिया में कहीं यह बात नहीं कही गयी कि जिसे 'अभयारण्य' बताया जा रहा है वह दरअसल युकेलिप्टस के पेड़ों का जंगल है। बरसों पहले सरकार ने इस जगह मौजूद पुराने जंगल को साफ़ कराकर यह ज़मीन बिड़ला के नाम कर दी थी। बिड़ला समूह ने यहाँ 1959 में ग्रासिम रेयान फ़ैक्ट्री के लिए युकेलिप्टस के पेड़ लगवाए थे। इस बात के पर्याप्त सबूत मौजूद हैं कि फ़ैक्ट्री लगने से क्षेत्र के बाँस वनों, चलियार नदी और पर्यावरण को भारी तबाही का सामना करना पड़ा है। फ़ैक्ट्री से निकले ज़हरीले धुँए से आसपास की जनता को बेहद परेशानी उठानी पड़ी है। महज़ तीन हज़ार लोगों को रोज़गार देने के नाम पर बाँस, रेत और मछली पकड़ने का काम करने वाले तीन लाख लोगों की रोज़ी छीन ली गयी। राज्य सरकार ने प्रदूषण, जंगल और नदियों की तबाही रोकने के लिए कुछ नहीं किया। ग्रासिम के मालिकान और प्रबंधन पर सरकार ने कभी गोलियाँ नहीं चलवायीं। शायद इसका कारण यह था कि मालिकान भुखमरी की कगार पर जी रहे ग़रीब आदिवासी नहीं थे। बाँस और युकेलिप्टस के स्रोत ख़त्म होने के बाद यह फ़ैक्ट्री बंद कर दी गयी और कर्मचारियों को कोई मुआवज़ा नहीं दिया गया।

जोखिम की यह पत्रकारिता तथ्यों से कन्नी काटती है और लोगों में ग़लत समझ पैदा करती है। जोखिम की इस ख़बरनवीसी में लोगों के संसाधन लूटने, उनके लोकतांत्रिक अधिकारों पर आए दिन होने वाले हमलों और हज़ारों-लाखों लोगों की गरिमा से खिलवाड़ करने की साज़िश को कोई जगह नहीं दी जाती।

पंद्रह साल पहले तक भारत का यह भ्रष्ट और बेतरह केंद्रीकृत राज्य एक बंद क़िला था। ग़रीब आदमी इस क़िले तक पहुँचने की हिम्मत ही नहीं जुटा पाता था। राज्य द्वारा मुहैया करायी गयी शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली और पानी की सुविधाओं तक उसकी कोई पहुँच नहीं थी। ज़्यादातर लोग मल और कूड़े की व्यवस्था से भी महरूम थे। आज कॉरपोरेट वैश्वीकरण की इस महान परियोजना के तहत फ़ैसला करने वालों और उन फ़ैसलों का ख़ामियाज़ा उठाने वालों के बीच खाई पहले से और बढ़ गयी है। ग़रीब, अशिक्षित, विस्थापित और वंचित लोगों के लिए न्याय दूर की बात हो गयी है।

रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अन्याय का यह निर्मम चक्र यूँ ही बेआवाज़ घूमता रहता है और ख़बरनवीस उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देते। अन्याय का यह अदृश्य युद्ध हमारे समाज में अंदर ही अंदर फैलता जा रहा है और एक ऐसा भविष्य गढ़ रहा है जिसके बारे में सोचते हुए भी डर लगता है।

लेकिन हम हैं कि अपने इस टाइटैनिक पर आसपास के हालात से बेख़बर मज़े से बैठे हुए हैं। दरअसल हमारा जहाज़ धीरे-धीरे डाँवाडोल होने लगा है। सस्ते टिकट वाले मुसाफ़िर जहाज़ से गिरने लगे हैं पर बैंक्वेट हॉल में संगीत बदस्तूर जारी है। ख़तरे के संकेत उभरने लगे हैं – वेटर्स एक तरफ़ झुकने लगे हैं, चांदी की ट्रे में रखे क़बाब और पकौड़े किनारे की ओर सरकने लगे हैं और जाम छलकने लगे हैं। संपन्न यात्रियों को इस बात का दिलासा है कि डेक पर उनके लिए लाइफ़बोट रखी हुई है।

त्रासदी यह है कि उनका भरोसा शायद ठीक ही है।

(यह पर्चा सराय-सीएसडीएस और वाग सोसायटी द्वारा मार्च 2003, दिल्ली में आयोजित 'क्राइसिस/मीडिया' पर आयोजित कार्यशाला में पढ़ा गया था।)

अनुवाद: नरेश गोस्वामी